





# नैतिकता, सत्यनिष्ठा व अभिवृत्ति (भाग 1)



641, प्रथम तल, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009  
दूरभाष: 011-47532596, 87501 87501

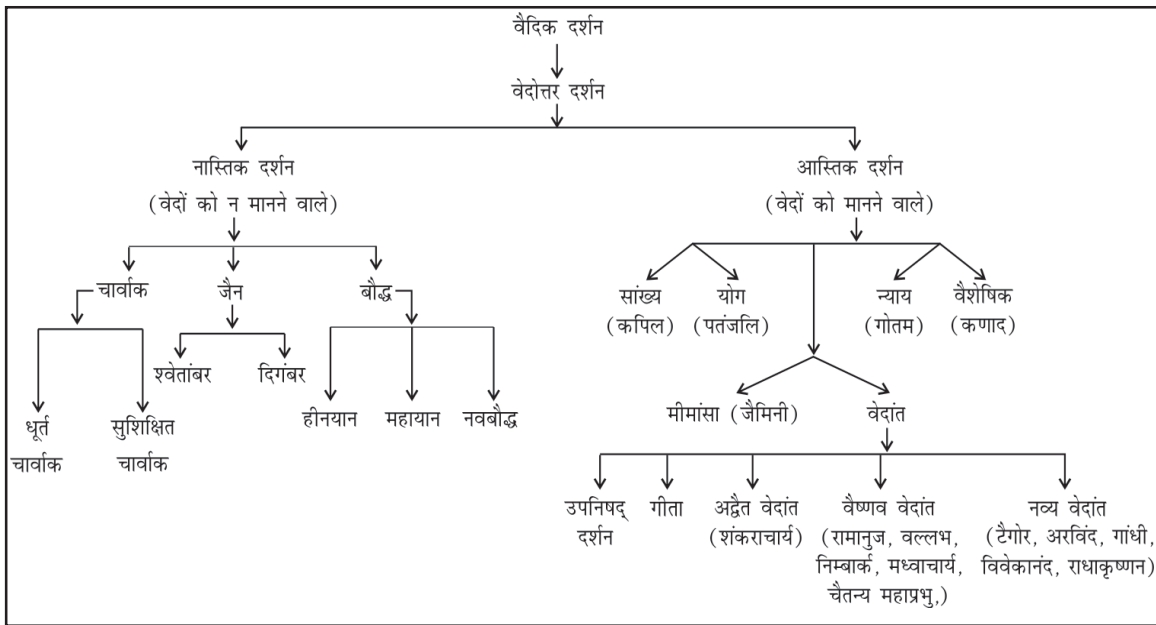
**Web:** [www.drishtiias.com](http://www.drishtiias.com)  
**E-mail :** [drishtiacademy@gmail.com](mailto:drishtiacademy@gmail.com)

पाठ्यक्रम, नोट्स तथा बैच संबंधी updates निरंतर पाने के लिये निम्नलिखित पेज को "like" करें

 [www.facebook.com/drishtithevisionfoundation](http://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation)  
 [www.twitter.com/drishtiias](http://www.twitter.com/drishtiias)

## भारतीय दर्शन में नीतिमीमांसा

भारतीय दर्शन को मुख्य रूप से वैदिक दर्शन तथा वेदोत्तर दर्शन में विभाजित किया गया है। वैदिक दर्शन का आधार चार वेद हैं जिन्हें अपौरुषेय माना जाता है। वेदोत्तर को नास्तिक दर्शन तथा आस्तिक दर्शन में विभाजित किया जाता है। यहाँ आस्तिक या नास्तिक शब्द का ईश्वर की अवधारणा से कोई स्पष्ट संबंध नहीं है। आस्तिक दर्शन वे दर्शन हैं जो वेदों को सत्य मानते हैं अतः अपनी विवेचना के लिये वैदिक ज्ञान को आधार भूमि के रूप में प्रयुक्त करते हैं जबकि नास्तिक दर्शन वेदों में विश्वास नहीं करते। नास्तिक दर्शन के अंतर्गत चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन आते हैं जबकि आस्तिक दर्शन के अंतर्गत सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा या वेदांत आते हैं। इन 6 आस्तिक दर्शनों को षट्दर्शन या हिन्दू दर्शन या सनातन दर्शन भी कहा जा सकता है। इस वर्गीकरण को निम्नांकित चित्र से समझा जा सकता है-



भारत में नीतिशास्त्र का विकास स्वतंत्र रूप से न होकर तत्त्व मीमांसा के साथ मोक्ष के साधन के रूप में हुआ है। इसलिये प्राचीन भारत में नीति मीमांसा पर कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं है। परंतु वेदों में नीति के कुछ तत्त्व स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

## वेदों की नीतिमीमांसा

वेदों में भारतीय दर्शन का सबसे आरंभिक स्वरूप है। वेदों की नीति मीमांसा प्रवृत्तिमार्गी है अर्थात् इसमें भौतिक या ऐन्द्रिक सुखों पर बल दिया गया है। वैदिक काल की नैतिकता बहिर्मुखी नैतिकता (Extrovertive Ethics) है। इसमें आंतरिक प्रेरणा से नहीं वरन् बाह्य दबावों के कारण नैतिकता का पालन किया जाता है।

## वेदों की प्रमुख नीतिमीमांसीय अवधारणाएँ

### 1. कर्म सिद्धांत

कर्म सिद्धांत नैतिकता के क्षेत्र में कारण-कार्य का सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को उसके द्वारा किये गए कर्मों के अनुसार फल मिलता है। परंतु व्यावहारिक जीवन में कई बार देखा जाता है कि नैतिक व्यक्ति कष्टकर जीवन जीता है व अनैतिक व्यक्ति सुखी जीवन जीता है। इन मामलों की व्याख्या केवल कर्म सिद्धांत के आधार पर नहीं

हो सकती। इसलिये पुनर्जन्म के सिद्धांत का विकास हुआ। इस सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति का जन्म अनेक बार होता है और नए जन्म में उसे अपने पिछले कर्मों का फल भी भोगना पड़ता है। पुनर्जन्म के सिद्धांत की व्याख्या करने के लिये आत्मा की अमरता के सिद्धांत का विकास हुआ।

## 2. पुरुषार्थ

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ हैं। पुरुषार्थ मानव जीवन के लक्ष्य हैं; ये साध्य नहीं साधन हैं। वेदों में धर्म, अर्थ और काम पर अधिक बल दिया गया है जबकि उपनिषदों में मोक्ष पर अधिक बल दिया गया है। 'अर्थ' से अभिप्राय नैतिक तरीकों से अर्जित धन व अन्य सुख सुविधाओं से है। 'काम' सीमित अर्थ में यौन सुख और व्यापक अर्थ में सभी सुखों को अभिव्यक्त करता है। काम तथा अर्थ में से अर्थ साधन है जबकि काम साध्य; अतः काम अर्थ से श्रेष्ठ है।

**(क) धर्म:** धर्म का अर्थ है धारण करने योग्य। वेद में धर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया है "धियते यः स धर्मः"। महाभारत भी धर्म को इसी रूप में व्यक्त करता है- 'धरति धारयति वा लोकम् इति धर्मम्'। मनु ने धर्म को दो भागों में बाँटा है- साधारण धर्म और विशेष धर्म। साधारण धर्म सभी के लिये समान था परंतु विशेष धर्म वर्ण के अनुसार था जैसे ब्राह्मण के लिये अध्ययन-अध्यापन, क्षत्रिय के लिये सुरक्षा, वैश्य के लिये व्यापार और शूद्र के लिये ऊपर के तीनों वर्णों की सेवा। मनु ने धर्म के दस लक्षण भी गिनाए हैं- धैर्य (धृति), क्षमा, मन पर नियंत्रण (दम), अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, बुद्धि (धी), विद्या, सत्य व अक्रोध। इस प्रकार भारत में धर्म का संबंध मूलतः व्यक्ति के आचरण से है। पश्चिम में धर्म के समानांतर रिलिजन (Religion) शब्द है जो Re (पुनः) तथा ligaire (बांधना) ये मिलकर बना है। अतः इसका शाब्दिक अर्थ है फिर से बांधना। पश्चिमी धार्मिक दर्शन के अनुसार ईश्वर और मनुष्य पहले एक साथ ही थे परंतु मनुष्य की पाप वृत्ति के कारण अलग हो गए। उस अलगाव को दूर करने के लिये अर्थात् आत्मा व परमात्मा को आपस में पुनः बांधने के लिये जो व्यवस्था है वही रिलिजन (Religion) है। इस तरह रिलिजन (Religion) अनिवार्य रूप से ईश्वर की अवधारणा से जुड़ा है जबकि धर्म के साथ ऐसा नहीं है।

वर्तमान में धर्म को नैतिकता तथा 'रिलिजन' (मजहब) दोनों के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। 'मित्र धर्म', 'छात्र धर्म', 'पुत्र धर्म' जैसी अभिव्यक्तियाँ मित्र, छात्र तथा पुत्र के नैतिक दायित्वों की ओर ही संकेत करती हैं। यहाँ धर्म का अर्थ नैतिकता और अधर्म का अर्थ अनैतिकता है। महात्मा गांधी धर्म की इसी धारणा के समर्थक थे और इसी के संबंध में उनका प्रसिद्ध कथन है- 'धर्म विहीन राजनीति मृत देह के समान है जिसे नष्ट कर दिया जाना चाहिये।' इस अर्थ में राजनीति में धर्म होना ही चाहिये और इससे किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। परंतु धर्म का प्रयोग मजहब के अर्थ में भी किया जाता है और इस अर्थ में धर्म का राजनीति में समावेश नहीं होना चाहिये और यह संविधान की मूल भावना के खिलाफ है। नेहरू इसी संदर्भ में मानते थे कि राजनीति में धर्म नहीं होना चाहिये।

**(ख) मोक्ष:** भारतीय दर्शन में मोक्ष जीवन का चरम लक्ष्य या सर्वोच्च शुभ है। इसे निःश्रेयस् अर्थात् निश्चित रूप से मंगलकारी कहा गया है। नौ भारतीय दर्शनों में से आठ (चार्वाक दर्शन को छोड़कर) मोक्ष की धारणा के समर्थक हैं। इसे मुक्ति, निर्वाण (बौद्ध), कैवल्य (जैन), अपवर्ग (न्याय, वैशेषिक) भी कहा जाता है।

मोक्ष का अर्थ है कर्म बंधन से मुक्ति या पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति। मोक्ष स्थाई अवस्था है जिसमें आत्मा अपनी प्रकृत अवस्था में होती है। मोक्ष के स्वरूप के विषय में 'भावात्मक' तथा 'अभावात्मक' धारणाएँ प्रचलित हैं। भावात्मक धारणा के अनुसार मोक्ष आनंद की स्थिति है जो जगत में उपलब्ध किसी भी सुख से गुणात्मक रूप से भिन्न है। जैन दर्शन, महायानी बौद्ध तथा वेदांत इस धारणा का समर्थन करते हैं। अभावात्मक धारणा के अंतर्गत हीनयानी बौद्ध, सांख्य तथा योग दर्शन मोक्ष को 'दुःखों का अभाव' मानते हैं जबकि न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा में इसे 'चेतना का अभाव' माना गया है।

### मोक्ष के साधन

अद्वैत वेदांत, न्याय, सांख्य, वैशेषिक तथा योग में 'ज्ञान' को मोक्ष का साधन माना गया है जबकि वैष्णव वेदांत भक्ति और मीमांसा में 'कर्म' पर अधिक बल दिया गया है। गीता के अनुसार ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों मार्गों से मोक्ष मिल सकता है। जैन धर्म में भी त्रिरत्न (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण) के रूप में समन्वित मार्ग पर बल दिया गया है।

### वर्तमान समय में मोक्ष की प्रासंगिकता

1. वर्तमान में ऐसे अलौकिक आदर्शों पर समाज का विश्वास कम है।
2. कुछ दार्शनिकों ने मोक्ष की पारंपरिक धारणा पर प्रश्न भी खड़े किये हैं जैसे-
  - (i) नारीवादियों ने प्रश्न उठाया है कि मोक्ष मार्ग केवल पुरुषों तक सीमित रहा है। इसे परम (चरम) पुरुषार्थ कहने पर उन्हें आपत्ति है। मोक्ष के विभिन्न मार्ग परिवार और समाज से कटने की मांग करते हैं जो महिलाओं के लिये संभव नहीं है। दिगम्बर जैन ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि महिलाएँ मोक्ष की अधिकारी नहीं हैं।
  - (ii) मोक्ष की धारणा केवल उच्च वर्णों तक सीमित रही है। डॉ. अम्बेडकर तथा नव बौद्ध विचारकों का आक्षेप है कि मोक्ष समता मूलक समाज के पक्ष में नहीं है।
3. यह धारणा व्यक्ति को परलोकवादी बनाती है जिससे इहलौकिक विकास की संभावनाएँ कम हो जाती हैं।

### मोक्ष की नई धारणा

1. इहलौकिक होनी चाहिये।
  2. विज्ञान-तकनीक का विकास इस तरह हो कि मनुष्यों के अधिकांश रोगों का निदान संभव हो तथा विभिन्न कष्ट व संकट समाप्त हो सकें जैसे जल संकट, खाद्य संकट, पर्यावरण संकट आदि।
  3. विश्व के सभी समाज एक ऐसी नीति मीमांसा को स्वीकार करें जिसमें निम्नलिखित लक्षण हों-
    - (क) मानव मात्र की समानता (न लिंग भेद, न प्रजातीय भेद, न वर्ग भेद, न राष्ट्रीयताओं के भेद इत्यादि)।
    - (ख) प्रत्येक व्यक्ति को इतनी स्वाधीनता हो कि वह अपनी रुचियों के अनुसार अपने जीवन को परिभाषित कर सके।
    - (ग) मनुष्यों के अलावा प्राणी जगत तथा पेड़-पौधों के प्रति भी संवेदनशीलता का विकास हो।
    - (घ) अंतर्राष्ट्रवादी नैतिकता का विकास हो ताकि राष्ट्रवाद के नाम पर विभिन्न युद्धों आदि से बचा जा सके।
- अगर ये सभी स्थितियाँ उपलब्ध होंगी तो इहलौकिक जीवन ही मोक्ष जैसा हो सकता है।

### जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति

बौद्ध, अद्वैत वेदांत, सांख्य व योग के अनुसार मोक्ष जीवित रहते हुए मिल सकता है। जीवित रहते हुए प्राप्त होने वाले मोक्ष को 'जीवन मुक्ति' तथा मृत्यु के बाद प्राप्त होने वाले मोक्ष को 'विदेह मुक्ति' कहते हैं। बौद्ध धर्म में जीवन मुक्ति को निर्वाण तथा विदेह मुक्ति को परिनिर्वाण कहा गया है। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वैष्णव वेदांत दर्शन केवल विदेह मुक्ति में विश्वास रखते हैं।

गौरतलब है कि मोक्ष की धारणा कर्म की धारणा पर आधारित है। कर्म तीन तरह के माने गए हैं: संचित कर्म, संचयीमान कर्म और प्रारब्ध कर्म। संचित कर्म ऐसे कर्म हैं जो संचित तो हो चुके हैं परंतु जिनका फल मिलना अभी प्रारंभ नहीं हुआ है। व्यक्ति द्वारा किये जा रहे कर्म जो निरंतर संचित हो रहे हैं संचयीमान कर्म कहलाते हैं। प्रारब्ध कर्म भी संचित कर्म ही हैं परंतु इन कर्मों का फल मिलना प्रारंभ को चुका है।

जीवन मुक्ति के संबंध में तीन बातें विचारणीय हैं-

- (i) संचित कर्म जलकर राख हो जाते हैं।
- (ii) जीवन मुक्त व्यक्ति जो भी कर्म करता है उनमें व्यक्तिगत लाभ की लालसा नहीं होती। गीता की भाषा में इन्हें निष्काम कर्म कहते हैं और बुद्ध की भाषा में 'अनासक्त कर्म'। बुद्ध के अनुसार ये कर्म भुने हुए बीज की तरह होते हैं जो फल उत्पन्न करने की क्षमता नहीं रखते। जीवनमुक्त व्यक्ति के संचयीमान कर्म नहीं होते।
- (iii) चूँकि प्रारब्ध कर्मों का फल मिलना शुरू हो चुका है इसलिये यह प्रक्रिया नहीं रूकेगी। जीवन मुक्त व्यक्ति तब तक देह से युक्त रहेगा जब तक इन कर्मों का फल नहीं मिल जाएगा। इसके बाद देहपात के साथ ही वह विदेह मुक्त हो जाएगा।

### 3. वर्णाश्रम धर्म

वर्ण व्यवस्था तथा आश्रम व्यवस्था वर्णाश्रम धर्म के दो प्रमुख स्तंभ हैं। समाज को चार वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य

और शूद्र में विभाजित किया गया है तथा प्रत्येक व्यक्ति के उसके वर्ण के अनुसार कार्य निर्धारित हैं। व्यक्ति के जीवन को सौ वर्ष का मानकर उसे चार आश्रमों में भी विभाजित किया गया है। ये चार आश्रम हैं- ब्रह्मचर्य आश्रम (प्रथम पच्चीस वर्ष), गृहस्थ आश्रम (ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद के 25 वर्ष), वानप्रस्थ आश्रम (गृहस्थ आश्रम के बाद के 25 वर्ष) तथा संन्यास आश्रम (सबसे अंत के 25 वर्ष)।

ब्रह्मचर्य आश्रम में इंद्रिय संयम पर जोर दिया जाता है तथा अध्ययन और विभिन्न कौशल सीखने का प्रयास किया जाता है। गृहस्थाश्रम में विवाह, संतानोत्पत्ति तथा नैतिकता के दायरे में रहते हुए जीवन का सामान्य सुख भोग किया जाता है। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति के मुख्य कार्य हैं संयमपूर्वक जीते हुए अन्य व्यक्तियों को नैतिक जीवन जीने के लिये मार्गदर्शन देना और आत्मचिंतन तथा ईश्वर चिंतन करते रहना। संन्यास आश्रम में एकमात्र उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति होता है, जीविकोपार्जन के लिये भिक्षाटन किया जाता है और साथ ही मानव मात्र के कल्याण का प्रयास किया जाता है।

#### 4. संस्कार

संस्कार के दो अर्थ हैं:

- (i) नैतिक मूल्य जो बार-बार अभ्यास से सदगुण या आदत बन गए हैं। संस्कार बनने का अर्थ है कि व्यक्ति अब यह कार्य किसी चेतन निर्णय प्रतिक्रिया के आधार पर नहीं बल्कि बिना सोचे-विचारे आदत के रूप में करेगा। उदाहरण: पहली स्थिति- बच्चे द्वारा माता-पिता के पैर छूना (बाहरी दबाव, डाँट आदि के कारण)। दूसरी स्थिति- बाहरी दबाव समाप्त किंतु आदत नहीं पड़ी है- हर ऐसी स्थिति में सोचकर निर्णय करना फिर पैर छूना। तीसरी स्थिति (संस्कार की स्थिति): जैसे ही कोई बड़ा दिखाई दे, बिना किसी सोच-विचार के उनके पैर छू लेना।
- (ii) जीवन की विभिन्न अवस्थाएँ: वैदिक साहित्य में प्रयास किया गया है कि व्यक्ति के जीवन को विभिन्न नैतिक व्यवस्थाओं में बाँट दिया जाए। जिस तरह उसकी उम्र के अनुसार चार आश्रम बनाए गए हैं वैसे ही उसके जीवन को 16 अन्य चरणों में भी बाँटा गया है जिन्हें संस्कार कहते हैं-
  1. पहले तीन संस्कार जन्म से पूर्व- जैसे उत्तम संतान की प्राप्ति हेतु गर्भाधान संस्कार।
  2. चौथे से लेकर आठवें संस्कार जन्म के बाद व शिक्षा के पहले किये जाते हैं जैसे पाँचवाँ संस्कार नामकरण और आठवाँ संस्कार मुण्डन या चूड़ाकर्म है।
  3. नौवाँ से लेकर तेरहवाँ संस्कार शिक्षा प्राप्ति से संबंधित है जैसे ग्यारहवाँ संस्कार उपनयन या यज्ञोपवीत है।
  4. चौदहवाँ तथा पंद्रहवाँ संस्कार विवाह से संबंधित है जैसे पंद्रहवाँ संस्कार पाणिग्रहण है।
  5. सोलहवाँ संस्कार अन्त्येष्टि है जो मृत्यु के बाद किया जाता है।

#### संस्कार व्यवस्था का मूल्यांकन

##### लाभ

1. जीवन में व्यवस्था बनी रहती है।
2. विभिन्न उत्सवों के होने से व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन में आनंद।
3. समाजीकरण की प्रक्रिया व्यवस्थित हो जाती है।

##### हानि

1. कर्मकाण्ड बढ़ते हैं।
2. पुरोहितों के लिये लाभकारी किंतु गरीबों के लिये कष्टकारी है।
3. यह व्यवस्था इतनी मजबूत है कि नवाचार तथा लचीलेपन की संभावना कम हो जाती है।
4. महिलाओं व अवर्णों के प्रति समानता का भाव नहीं है। यज्ञोपवीत का अधिकार न तो स्त्रियों को है और न ही अवर्णों को।

### 5. ऋण

व्यक्ति अपने नैतिक कर्तव्यों को भूल न जाए इसलिये वैदिक नीति मीमांसा में ऋण की धारणा विकसित की गई। इसका अर्थ है कि व्यक्ति पर शुरू से ही तीन ऋण होते हैं जिन्हें चुकाना उसका धर्म है; इन्हें चुकाए बिना उसे मुक्ति नहीं मिल सकती। ये तीन ऋण हैं-

1. देव ऋण- ईश्वर के प्रति ऋण-इसे चुकाने के लिये विभिन्न अनुष्ठान करने होते हैं।
2. ऋषि ऋण- ऋषि-मुनियों तथा गुरुओं के प्रति ऋण-इसे चुकाने के लिये इनकी आज्ञा मानना और इनको आर्थिक सहायता करना इत्यादि।
3. पितृ ऋण- इसे चुकाने के लिये अपने माता-पिता व अन्य वरिष्ठ सदस्यों के प्रति ज़िम्मेदारी निभाना, बुढ़ापे तथा अशक्तता में उनकी सेवा या सहायता करना इत्यादि।

#### लाभ

- (i) व्यक्ति अपने कर्तव्य नहीं भूलता।
- (ii) समाज में वृद्धों की सेवा, सुरक्षा आदि का दायित्व उनकी अगली पीढ़ी पर होती है और वे (अगली पीढ़ी) ही उन दायित्वों का निर्वहन करती हैं। इससे वृद्धों की सामाजिक सुरक्षा के लिये वैकल्पिक संस्थाओं की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

#### हानि

- (i) व्यक्ति पर दबाव पड़ता है जिसे झेलना कई बार असंभव हो जाता है।
- (ii) देव ऋण वर्तमान में प्रासंगिक नहीं है।
- (iii) ऋषि ऋण की धारणा भी व्यक्ति को अति आज्ञाकारी होना सिखाती है। वह विद्यार्थी को अध्यापक की तुलना में नीचे रखती है। प्रश्न आदि पूछने की मनाही और आज्ञापालन पर अत्यधिक बल इसकी प्रमुख कमियाँ हैं।

### 6. पुण्य एवं पाप

ऐसे कर्म या सदगुण जो शुभ की प्राप्ति में सहायक होते हैं पुण्य कहलाते हैं जैसे सत्य बोलना, माता-पिता की सेवा करना आदि। पाप अशुभ में सहायक अनैतिक कर्म हैं जैसे- चोरी, झूठ, हत्या, देवी-देवताओं का अपमान आदि।

### 7. ऋत

ऋत संपूर्ण विश्व में विद्यमान एक नैतिक व्यवस्था है जो पूर्णतः वस्तुनिष्ठ है। उसी के अनुरूप सभी नैतिक प्रश्नों का निर्धारण होता है।

## उपनिषद व गीता की नीतिमीमांसा

### उपनिषद दर्शन की नीतिमीमांसा

उपनिषदों में वैदिक काल के बहुदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर स्थानांतरण दिखता है। उपनिषदों के काल में पारलौकिक रुचियाँ बढ़ने लगीं और इससे निवृत्ति मार्गी नीति मीमांसा उत्पन्न हुई जिसमें भोग पर नहीं बल्कि संयम पर और भौतिक सुखों की जगह आध्यात्मिक सुखों पर बल दिया गया था। इस युग की नैतिकता किसी बाह्य दबाव से नहीं बल्कि आंतरिक प्रेरणा से उत्पन्न हुई है इसलिये यह अंतर्मुखी नैतिकता दर्शाती है। उपनिषदों में अंतर्मुखी नैतिकता के विकास का एक कारण यह भी था कि इस दौर में ब्रह्म और मनुष्य के एकत्व को मान लिया गया। उपनिषदों में ब्रह्म और मनुष्य का एकत्व दर्शाने वाले कई वाक्य आए हैं जैसे 'अहं ब्रह्मास्मि'; 'तत् त्वम् असि' आदि। इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर ब्रह्म की सत्ता विद्यमान है। इन धारणाओं ने व्यक्ति को भीतर से नैतिक होने के लिये प्रेरित किया।

वैदिक दर्शन की अनेक धारणाओं में इस समय परिवर्तन आया। वैदिक युग में चार पुरुषार्थों में से पहले तीन (अर्थ, धर्म, काम) अधिक महत्त्वपूर्ण थे परंतु उपनिषद् दर्शन में मोक्ष को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। इसी प्रकार आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत वैदिक युग में गृहस्थ आश्रम अधिक महत्त्वपूर्ण था किंतु उपनिषद् दर्शन संन्यास आश्रम को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। वर्णाश्रम व्यवस्था पहले की अपेक्षा अधिक कठोर हो गई और कर्मफल, पुनर्जन्म तथा आत्मा की अमरता के सिद्धांत का सुव्यवस्थित रूप सामने आया।

## गीता की नीतिमीमांसा

गीता हिन्दू धर्म तथा वेदांत दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। यह प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता) का अंग है। गीता कुरुक्षेत्र के युद्ध मैदान में श्री कृष्ण द्वारा दिया गया उपदेश है। यह महाभारत का अंग है। गीता में मोक्ष प्राप्ति को ज्ञान, भक्ति तथा कर्म तीनों मार्गों से संभव बताया गया है। गीता के विभिन्न व्याख्याकारों ने इनमें से हर मार्ग को अलग-अलग महत्त्व दिया है। अद्वैत वेदांत के व्याख्याकार शंकराचार्य ने गीता भाष्य में ज्ञान मार्ग की प्रधानता स्थापित की है तथा भक्ति व कर्म मार्ग को ज्ञान मार्ग का सहयोगी बताया है। वैष्णव वेदांत के संस्थापक रामानुज ने भक्ति को सर्वप्रमुख माना है। नव्य वेदांत के अंतर्गत माने जाने वाले बाल गंगाधर तिलक (गीता रहस्य) तथा गांधी (अनासक्ति योग) ने कर्म को प्रमुखता दी है।

गीता में नैतिकता तथा धर्म को लगभग समान अर्थों में प्रयोग किया गया है। गीता कर्म सिद्धांत के साथ-साथ पुनर्जन्म तथा आत्मा की अमरता दोनों को मान्यता देती है। गीता के अनुसार आत्मा को न तो कोई शस्त्र काट सकता है, न आग जला सकती है और न हवा सुखा सकती है अर्थात् आत्मा अमर है। जिस प्रकार वस्त्र पुराने हो जाने पर व्यक्ति पुराने वस्त्र त्यागकर नए वस्त्र धारण कर लेता है उसी प्रकार आत्मा शरीर पुराना हो जाने पर नया शरीर धारण कर लेती है। इसके अतिरिक्त गीता ने 'अवतारवाद' की अवधारणा को भी पुष्ट किया है। गीता में कृष्ण स्वयं कहते हैं कि धर्म को पुनः स्थापित करने के लिये वे हर युग में अवतार लेते हैं। इसके अतिरिक्त गीता में निष्काम कर्मयोग तथा स्थितप्रज्ञ की धारणा का भी विवेचन किया गया है।

## निष्काम कर्मयोग

इसका सामान्य अर्थ है कि व्यक्ति को निष्काम भाव से अर्थात् फल की इच्छा रखते हुए केवल अपना कर्तव्य करने पर बल देना चाहिये। यहाँ योग का अर्थ मार्ग से है। समग्रता से कहें तो निष्काम कर्मों का मार्ग ही व्यक्ति को बंधन से मुक्ति की ओर ले जाने में सक्षम है। यह सिद्धांत भारतीय दर्शन में कर्तव्यवाद का प्रतिनिधि सिद्धांत है जिसकी तुलना जर्मन दार्शनिक काण्ट के 'कर्तव्य के लिये कर्तव्य' सिद्धांत से की जाती है।

**निष्काम का अर्थ:** गीता में कहा गया है कि यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति को कर्म के अनुसार फल अवश्य मिलता है किंतु नैतिकता का तकाजा है कि व्यक्ति फल के लोभ के लिये कर्म न करे। वह सफलता और असफलता से अविचलित रहे। गीता के दूसरे अध्याय के 47वें और 48वें श्लोक में श्री कृष्ण ने कहा है कि "तुम्हारा अधिकार कर्म करने में ही है उसके फल पर नहीं अतः फल की इच्छा से प्रेरित होकर तुम्हें कोई कर्म नहीं करना चाहिये। सिद्धि-असिद्धि में समभाव रखते हुए तथा फल की आकांक्षा का त्याग करते हुए तुम कर्म करो यही कर्म योग है।"

निष्काम कर्म की स्थिति में आने के लिये मानसिक नियंत्रण और इन्द्रिय संयम जरूरी है। श्री कृष्ण ने कहा है कि यद्यपि मन अत्यंत चंचल है और उसकी गति वायु से भी तेज है; तब भी निरंतर अभ्यास और वैराग्य द्वारा उसे नियंत्रित किया जा सकता है।

**कर्म का अर्थ:** गीता में कर्म की धारणा को स्पष्ट करने के लिये 'स्वधर्म' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ वर्ण के अनुसार कर्म से है अर्थात् व्यक्ति को अपने वर्ण के अनुसार ही कर्म करना चाहिये। अर्जुन के क्षात्र धर्म को उद्बोधित करने की प्रक्रिया में श्री कृष्ण ने स्वधर्म की धारणा पर बल दिया है। ध्यातव्य है कि गीता में वर्ण धर्म को महत्त्व तो दिया गया है किंतु वर्ण अनुसार विभाजित कार्यों को ऊँचा या नीचा नहीं माना गया है; साथ ही वर्णों का निर्धारण जन्म से नहीं कर्मों के अनुसार माना गया है।

गीता के चौथे अध्याय के 13वें श्लोक में श्री कृष्ण का कथन है कि विभिन्न वर्णों का विभाजन कर्मों के आधार पर ही किया गया है उनके जन्म के आधार पर नहीं।

### स्थितप्रज्ञ

गीता के उपदेश में स्थितप्रज्ञ की धारणा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। निष्काम कर्मयोग का पालन करने वाला व्यक्ति ही स्थितप्रज्ञ कहलाता है। इस कठिन मार्ग पर चलने की शर्त है कि व्यक्ति अपने मन तथा इन्द्रियों को पूर्णतः संयमित कर ले और फलासक्ति को पूर्णतः त्याग दे।

गीता के दूसरे अध्याय के 55वें, 56वें और 57वें श्लोकों में श्रीकृष्ण ने कहा है- “जिस मनुष्य ने अपनी समस्त मनोकामनाओं को नियंत्रण में कर लिया है, जो लाभ-हानि, जय-पराजय तथा सुख-दुख जैसी विरोधी स्थितियों में समभाव रखता है अर्थात् सुखी या दुखी नहीं होता और किसी के प्रति राग और द्वेष से मुक्त रहता है, वही स्थितप्रज्ञ है।”

### मोक्ष मार्ग

गीता के अनुसार तीनों मार्ग उचित हैं लेकिन ऐसा लगता है कि कर्म मार्ग को केन्द्रीय महत्त्व दिया गया है। महात्मा गांधी और तिलक ने एक श्लोक के आधार पर दावा किया है कि गीता कर्म मार्ग को सर्वश्रेष्ठ बताती है। यह श्लोक बारहवें अध्याय का 12वाँ श्लोक है जिसका भाव है कि- “निरंतर अभ्यास से ज्ञान बेहतर है, ज्ञान से भक्ति बेहतर है और भक्ति से बेहतर है कर्मों के फल की आकांक्षा से मुक्ति।” इस श्लोक को छोड़ दें तो सामान्यतः यही भाव निकलता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार मार्ग का चयन करने के लिये स्वतंत्र है।

### गीता की नीतिमीमांसा का मूल्यांकन

1. आमतौर पर यह संभव नहीं है कि किसी कर्म के मूल में कोई कामना न हो; तब भी अगर व्यक्ति सीमित मात्रा में भी इस आदर्श की उपलब्धि कर ले तो भावनात्मक स्तर पर अत्यधिक परिपक्व हो सकता है।
2. पूर्णतः स्थितप्रज्ञ होना भले ही संभव न हो किंतु वह ऐसा आदर्श है कि उसकी ओर जितना हो सके बढ़ते रहना चाहिये। जीवन में सुखों और दुखों से बचना संभव नहीं है किंतु उनके नकारात्मक प्रभावों से बचा जा सकता है और अपने मन को ऐसी संतुलित स्थिति में लाने का अर्थ यही है कि स्थितप्रज्ञ के आदर्श की ओर बढ़ा जाए।
3. वर्ण के अनुसार स्वधर्म की धारणा अब प्रासंगिक नहीं है।
4. पारलौकिक मोक्ष की धारणा भी अब प्रासंगिक नहीं है।

### गीता और काण्ट की तुलना

#### समानताएँ

1. गीता में फल की आसक्ति का विरोध है। काण्ट ने इसे ही अन्य रूप में कहा है- कर्तव्य कर्तव्य के लिये फल के लिये नहीं।
2. दोनों में मन और इन्द्रियों के नियमन पर बल दिया गया है।
3. दोनों में भौतिक सुखों की बजाय आध्यात्मिक सुखों पर बल दिया गया है।
4. दोनों संकल्प स्वातंत्र्य (Freedom of will) के समर्थक हैं अर्थात् दोनों मानते हैं कि मनुष्य का आचरण उसकी स्वतंत्र इच्छाशक्ति का परिणाम है। अतः मनुष्य अपने कर्मों के प्रति उत्तरदायी है।

#### अंतर

1. गीता में नीतिशास्त्र ईश्वर पर आधारित है तथा ईश्वर ने ही स्वयं नैतिक सिद्धांत का प्रतिपादन किया है जबकि काण्ट के अनुसार ईश्वर स्वयं नीतिशास्त्र पर निर्भर है। काण्ट ने निश्चित अर्थों में ईश्वर का अस्तित्व नहीं माना है। उसकी धारणा है कि विश्व में नैतिक व्यवस्था को चलाने के लिये ईश्वर के अस्तित्व में आस्था रखी जानी चाहिये।
2. गीता के अनुसार फल की आकांक्षा के बिना कर्म करना है किंतु यह तय है कि फल मिलेगा। काण्ट के अनुसार फल मिलने की कोई गारंटी नहीं सिर्फ संभावना है कि फल मिलेगा।
3. गीता में कठोरता अपेक्षाकृत कम है और सहज मानवीय भावनाओं के लिये अवकाश बना हुआ है जबकि काण्ट के यहाँ कठोरवाद है और सहज भावनाओं और वासनाओं का पूर्ण दमन जरूरी है।



4. गीता में नैतिकता में कुछ अपवादों को भी स्वीकार किया गया है। इसका अर्थ है कि सीमित अर्थों में Deontology पर Teleology भारी पड़ गई है जैसे हिंसा नहीं करनी चाहिये लेकिन अगर कर्तव्य के लिये ज़रूरी हो तो उसे स्वीकार किया जा सकता है। काण्ट के यहाँ डीऑन्टोलोजी अपने चरम पर है और नैतिक नियमों में किसी अपवाद की अनुमति नहीं है।

## चार्वाक दर्शन की नीतिमीमांसा

चार्वाक दर्शन भारतीय परंपरा का एकमात्र भौतिकवादी दर्शन है। लोक में प्रसिद्ध होने के कारण इसे लोकायत दर्शन और बृहस्पति द्वारा प्रतिपादित होने के कारण बार्हस्पत्य दर्शन कहा जाता है। चार्वाकों के दर्शन ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। उनके दर्शन को केवल अन्य दार्शनिकों द्वारा की गई उनकी आलोचना के आधार पर निर्मित करने का प्रयास किया गया है।

चार्वाक शब्द 'चारु' तथा 'वाक्' से मिलकर बना है। 'चारु' शब्द का अर्थ है सुंदर और 'वाक्' शब्द का अर्थ है बातें। इस तरह चार्वाक शब्द का अर्थ हुआ 'सुंदर बातें'। परंतु आलोचकों ने चार्वाक शब्द की उत्पत्ति चर्व धातु से मानी है जिसका अर्थ है चबाना। उनके अनुसार चार्वाक दर्शन ऐसा दर्शन है जो पूरी नीति को ही चबा गया।

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष ज्ञान को मानते हैं अर्थात् वे उसी ज्ञान को मानेंगे जो ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञात होगा। तत्त्व मीमांसा के स्तर पर चार्वाक केवल इहलोक को स्वीकार करते हैं तथा परलोक, स्वर्ग, नर्क, आत्मा, ईश्वर, पुनर्जन्म और अवतार आदि धारणाओं को खारिज कर देते हैं। नीति के स्तर पर चार्वाक सुखवादी है और उन पर प्रारंभिक वैदिक दर्शन के प्रवृत्ति मार्ग का प्रभाव माना जा सकता है। चार्वाकों को सुशिक्षित चार्वाक तथा धूर्त चार्वाक में बाँटा जाता है। दोनों ही सुख को सर्वोच्च शुभ मानते हैं परंतु सुशिक्षित चार्वाक सुखों में गुणात्मक भिन्नता मानते हैं जबकि धूर्त चार्वाक सुखों में गुणात्मक भिन्नता को स्वीकार नहीं करते। वे सुखों में केवल मात्रात्मक भिन्नता मानते हैं।

## नीतिमीमांसीय विचार

चार्वाकों ने केवल एक पुरुषार्थ 'काम' को सर्वोच्च शुभ के रूप में स्वीकार किया है (कामेव एकः पुरुषार्थः)। अर्थ को साधन के रूप में उपयोगी माना गया है परंतु यह जीवन का लक्ष्य नहीं है और स्वतंत्र रूप से अर्थ का कोई महत्त्व नहीं है। धर्म को चार्वाकों ने मानसिक रोग तथा ब्राह्मणों का षड्यंत्र माना है। चार्वाकों ने कर्मकाण्डों का भी जमकर विरोध किया। श्राद्ध के विषय में उनका मानना था कि श्राद्ध करना मरे घोड़े को घास खिलाने के बराबर है। जब नीचे की मंजिल पर रखा हुआ भोजन ऊपर की मंजिल तक भी नहीं पहुँच पाता तो स्वर्ग कैसे पहुँचेगा। बलि प्रथा का विरोध करते हुए चार्वाकों ने कहा कि अगर बलि दिया हुआ पशु सीधे स्वर्ग जाता है तो ब्राह्मणों को चाहिये कि अपने माँ-बाप की बलि दें ताकि वे सीधे स्वर्ग चले जाएँ।

चार्वाकों ने मोक्ष को भी खारिज किया। चार्वाकों का मानना था कि मृत्यु व्यक्ति के अस्तित्व का पूर्ण अंत है और मृत्यु के बाद कुछ भी नहीं होता। एक जगह तो चार्वाकों ने मृत्यु को ही मोक्ष बता दिया है- 'मरण एव अपवर्गः'।

चार्वाकों के यहाँ काम का अर्थ सभी प्रकार के सुखों से है। 'सुख' चार्वाकों के जीवन का चरम लक्ष्य था और वे ऋण लेकर भी सुखी रहने को बुरा नहीं मानते थे-

*“यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्  
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?”*

धूर्त चार्वाकों ने सुखों में केवल मात्रात्मक भेद माना है गुणात्मक भेद नहीं। इसका अर्थ है कि पान खाने में मिलने वाला सुख और पूजा करने में मिलने वाला सुख मूल प्रकृति में समान हैं क्योंकि सारे सुख ही मूल प्रकृति में समान हैं और उनमें कोई गुणात्मक अंतर नहीं है; अंतर केवल मात्रा का है। व्यक्ति को जिस सुख में ज्यादा आनंद मिलता है उसे उसी सुख की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिये। मदिरापान और यौन सुख जैसे सुख किसी भी तरह से निम्न कोटि के नहीं हैं। हालाँकि सुशिक्षित चार्वाकों ने सुखों में गुणात्मक भेद को मान लिया। वात्स्यायन सबसे प्रसिद्ध सुशिक्षित चार्वाक थे।

चार्वाकों के अनुसार तत्काल मिलने वाला सीमित सुख बाद में मिलने वाले बड़े से बड़े सुख से बेहतर है। अभी मिलने वाला निश्चित सुख बाद के अनिश्चित सुख से बेहतर है। सुख मिलने की प्रक्रिया में चाहे बहुत दुःख आए मगर उनसे घबरा कर सुख को छोड़ देना मूर्खता है। इन बातों को चार्वाकों के शब्दों में ही कहा जाए तो

“हाथ की एक चिड़िया, झाड़ी के अंदर की दो चिड़ियों से बेहतर है।”

“आज जो कबूतर हाथ में है वह बेहतर है, कल मोर मिलेगा यह सोचकर उसे छोड़ना नहीं चाहिये।”

“काँटे के भय से मछली को छोड़ देना मूर्खता है।”

पश्चिम से तुलना की जाए तो अरिस्टिपस का निकृष्ट स्वार्थमूलक सुखवाद चार्वाक दर्शन के सबसे निकट है।

## मूल्यांकन

### सकारात्मक पक्ष

1. पूरी नीति मीमांसा इहलोकवादी है जो आधुनिक युग की मान्यताओं के अनुरूप है।
2. कर्मकाण्डों का विरोध करना एक आधुनिक दृष्टिकोण है। विशेष रूप से गरीबों को अनावश्यक दबावों से बचाने की कोशिश में किया गया विरोध आधुनिकता के बहुत निकट है।
3. अपनी मूल प्रकृति में यथार्थ के नजदीक है। प्रायः माना ही गया है कि मनुष्य की सभी कोशिशें सुख प्राप्त करने के ही विभिन्न प्रयास हैं।

### नकारात्मक

1. समाज के प्रति उत्तरदायित्व का कोई भाव नहीं है।
2. सुख भोग पर अत्यधिक बल देने से व्यक्ति की संवेदनशीलता नष्ट होने लगती है। वह दूसरों के दुःखों से चिंतित नहीं होता।
3. उधार लेकर घी पीने जैसे सिद्धांत व्यक्ति को ऋण के दुष्चक्र में फँसा सकते हैं।
4. नारीवादी दृष्टि से देखें तो यह नीति मीमांसा पुरुषों के पक्ष में है। नारी को इसमें भोग्य वस्तु के रूप में देखा गया है।

## जैन दर्शन की नीतिमीमांसा

जैन दर्शन आत्मा, आत्मा की अमरता, बंधन, मोक्ष, पुनर्जन्म और कर्म सिद्धांत को मानता है परंतु सैद्धांतिक रूप से ईश्वर व अवतारवाद में यकीन नहीं रखता। व्यावहारिक तौर पर जैन धर्म में ईश्वर को स्वीकार कर लिया गया है परंतु उसका स्थान जिन से नीचे रखा गया है।

### बंधन की धारणा

जैनों की नीतिमीमांसा में बंधन और मोक्ष की धारणाओं का विशिष्ट महत्त्व है। बंधन का अर्थ है कर्म फल की प्रक्रिया में उलझे रहना। व्यक्ति का जन्म इसलिये होता है क्योंकि कर्मों का फल पिछले जीवन की समाप्ति के बाद भी बचा रह गया था। संसार में होना बंधन का परिणाम भी है और बंधन का कारण भी। परिणाम इसलिये कि कर्मफल पूरा करने के लिये ही हम संसार में हैं और कारण इसलिये कि संसार में रहते हुए भी हम अपनी वास्तविक स्थिति को समझने की बजाय नई-नई वासनाओं में उलझकर कर्म करते रहते हैं और बंधन बढ़ता चला जाता है।

### मोक्ष

जैन धर्म में मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रिया, इस प्रक्रिया में प्रयुक्त होने वाले साधन तथा मोक्ष के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया गया है।

### प्रक्रिया

जैन आचार्यों ने बंधन से मोक्ष तक की प्रक्रिया को मुख्यतः पाँच चरणों में बाँटा है। ये हैं: आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और केवल्य (मोक्ष)।